

~~५११०३~~

ओ३म ॥

अथ वल्लभादिमतस्थान्प्रति प्रश्नाः खण्डनं च ।

- १—(प्र०) कोऽयं वल्लभोनाम कश्चास्यार्थः ? ॥
- २—(उ०) वल्लभोऽस्मदाचार्यः प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः ॥
- ३—(प्र०) किमाचार्यत्वं नाम भवन्तश्च के ? ॥
- ४—(उ०) गुरुराचार्यः, वर्यं वर्णाश्रमस्थाः ॥
- ५—(प्र०) किं गुरुत्वमस्ति ? ॥
- ६—(उ०) उपदेष्टृत्वमिति वदामः ॥
- ७—(प्र०) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रिय उताधर्मात्मानां मूर्खाणां च ? ॥
- ८—(उ०) नाद्यः कुतो भवतां सर्वेष्वप्यन्तु धर्माचरणविद्यावस्वाभावात् । किन्तु कश्चि-
त्तादृशोऽस्ति । न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स पद्माश्रेष्ठः स्यात् स्वजाति पर-

- १—(प्र०) वल्लभनामक पुरुष कौन है और इस शब्द का अर्थ क्या है ? ॥
- २—(उ०) वल्लभ हमारा आचार्य्य है इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुण-
युक्त प्यारा है ॥
- ३—(प्र०) आचार्य्यपन क्या है और आप कौन हैं ? ॥
- ४—(उ०) गुरु को आचार्य्य कहते हैं और हम लोग वर्णाश्रम धर्मस्थ हैं ॥
- ५—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ? ॥
- ६—(उ०) उपदेश करना इसको हम गुरुपन कहते हैं ॥
- ७—(प्र०) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है अथवा अधर्मी
और मूर्खों को प्रिय है ? ॥

८—(उ०) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं होसकता क्योंकि
आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान होना संभव नहीं किन्तु कोई वैसा है । द्वितीय-
पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उसमें मूर्खों की प्रीति होने से वह
ही अश्रेष्ठ समझा जावे क्योंकि अपने २ सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है अर्थात्

त्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । अन्यथा सर्वाधानप्रति संधेयां प्रीतिः सत्त्वान्मूर्ताश्च प्रति प्रीति-
रभावादिष्फल्याच्च तत्र बहुमतमेव दुर्घटम् । मृतस्याचार्यस्य परगणालेभयात् । "समित्पा-
णिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं ससुपगच्छेदिति" श्रुतेर्पक्षमानाभिप्रायत्वात् । "उपनीय तु यदिश्वा-
र्यवेदसध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरदस्यं च तमाचार्य्यमचक्षत" इति मनुमन्त्रविरोधात् ॥
मरणानन्तरमध्ययनाध्यापनयोग्ययत्वात् शरीरमात्रमन्यथाभावाच्चेति युक्त्या तस्मि-
न्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम् ॥ तथा च मृतमप्रीतिरशक्या निष्फला च ॥ तत्र प्रियत्वगुण-
विशिष्टवचनत्वमप्यसङ्गततन्त्रस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात् ॥

६—(प्र०) किङ्कर्तव्यं सत्योपदेष्टृत्वनाटोस्त्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ? ॥

१०—(उ०) नादिमः कुनो भवत्सु श्रोत्रियव्रतनिष्ठत्वात्सत्वादस्ति चेन्न सङ्गच्छते
विषयसेवायां प्रीतिर्दर्शनात् ॥ "अर्थकामधनसक्तानां धर्मदानं विधीयत" इति मनुसाह्यविरो-

विद्वानों की विद्वानों में और मूर्तों की मूर्तों में प्रीति विरोध होती है । और भी देखो
कि जीवितों में सब की प्रीति होना, मरे हुएों में न होने और मरों में प्रीति करना भी
निष्फल होने से उस पुरुष में बलमत्व अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता और
मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है । वेद में लिखा है कि वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के
पास हाथ में समिध लेके जावे इससे सिद्ध है कि मरे हुए के पास में समिध लेके जाना
असम्भव है और जो "यज्ञोपवीतं कराके कल्पसूत्रं और वेदान्त सहित शिष्य को वेद
पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं" इस मानवधर्मशास्त्र की सम्पत्ति से भी बलम का
आचार्यत्व होना विरुद्ध है मरने पश्चात् पढ़ना पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं वे नहीं
हो सकते क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार की श्रुतियों से
बलम को आचार्य मानना ही असङ्गत है । इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य
और निष्फल है और बलम के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना
भी असङ्गत है ॥

६—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ? क्या सत्योपदेश करना वा असत्य उपदेश
करना ही गुरुपन कहा जाता है ? ॥

१०—(उ०) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता क्योंकि
सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्म-
ज्ञानी जन नहीं हैं यदि कहो कि हैं तो तुम्हारा कहना असंगत है क्योंकि तुम लोगों
की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है । धर्मशास्त्र में कहा है कि अर्थ और

धातुव्रतामर्थकामैवेवास्तुक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतिर्विद्यमानत्वात्नमराण्यसमयेपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन्पदार्थान् कश्चिदगृह्णाति भवतान्तेन तुल्यत्वाच्च ॥ नान्यः ॥ असत्योपदेशस्थानमिधानादङ्गयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च ॥ स्वपुत्रादीन्प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रतिगुरुत्वासिमानानमिधानाद्भवत्सु गुरुत्वस्य विरहपक्षेत्यवगन्तव्यम् ॥ "निपेक्षानीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥ सम्भावयति चात्नेन स विप्रो गुरु-रुच्यते" इति मनुसास्यविरोधादविवाहितस्त्रियां वीर्यनिपेक्षस्य प्रापकत्वत्वाच्चेति ॥ भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदाक्तानि वर्णाश्रमस्य कर्त्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते क्रियन्ते चेन्मुक्षिपूजनं कण्ठीधारणमित्तलकं समर्पणं वेदानुक्तमंत्रोपदेशञ्च त्यजन्तु नोचेद्वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद्भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति सन्तव्यम् ॥

काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है। इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है। स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है और मरण समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चारणालादि के तुल्य मृतक के वस्त्र आभूषणादि पदार्थों को लेते हो इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुए। और द्वितीय पक्ष असत्योपदेश करने से भी बल्लभगुरु नहीं हो सकते क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध और दोनों गुरुशिष्य दुःख फलभागी होते हैं। अपने पुत्रों के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है। अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता। धर्मशास्त्र में कहा भी है "जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है वह ब्राह्मण गुरु कहा जाता है" इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है। और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है। यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं तो वर्णाश्रम के कर्त्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते? यदि करते हो तो पापाणादि मूर्खिपूजन, कण्ठी बांधना, तिलक लगाना, समर्पण करना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ यदि ऐसा नहीं करते तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते यह निश्चय जानना चाहिये ॥

११-(प्र०) भवन्तो गुरुः शिष्या मध्यस्था वा ? ॥

१२-(उ०) गुरुवैश्वेदशानपूर्वकान्वेदान्पाठशालादृष्ट्वा कुनो नाध्यापयन्ति ? ॥
शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति ? मध्यस्थाश्चेद्व्याख्याचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तौत्यवग-
न्तव्यम् ॥

१३-(प्र०) भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तत्त्रिगोविनो वा ? ॥

१४-(उ०) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोत्तकल्पितं चलत्-
भसंप्रदायगन्थं वा किमर्थं मन्यन्ते ? वेदविरोधिनश्चेत्प्रास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न
स्वीक्रियते ? ॥ "नास्तिकां वेदनिन्दकः" "योऽनघोऽयं द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते भ्रमम् ।
स जीवमेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वय" इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ॥ पुनर्हि जन्ममरणत्र-
तो देहधारिणः कृष्णादीन्जीवानां प्रवर्त्तनं किमर्थं व्यवहृन्ति ? नो जन्ममन्दिरे जड़मूर्ति-
स्थापनकृत्वा घण्टादिनादङ्घ्रादानिनां मिथ्योपदेशध्याजेन धनादीन्पदार्थान्किमर्थमाह-
रन्ति ? ॥

१५-(प्र०) भवन्तः स्वस्मिन्कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यन्वय ? ॥

११-(प्र०) आप लोग गुरु शिष्य वा मध्यस्थ हो ? ॥

१२-(उ०) यदि गुरु हो तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते ? यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते ? । यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है यह निश्चय जानना चाहिये ॥

१३-(प्र०) आप लोग वेदमतानुयायी हो वा वेदमत के विरोधी हो ? ॥

१४-(उ०) यदि वेदमतानुयायी हो तो वेदविरुद्ध अपने कपोलकल्पित चलत्तम वा अन्य संप्रदाय को क्यों मानते हो ? । यदि वेदविरोधी हो तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते ? यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि "वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है" और "जो वेद को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है वह अपने कुटुम्बसहित जीवते ही शूद्र हो जाता है" इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो । फिर जन्मने मरने वाले श्रीकृष्णजी आदि देहवारी जीवों में ईश्वर का भाव का व्यवहार क्यों करते हो ? यदि कहो कि हम श्रीकृष्णादि ईश्वर नहीं मानते तो मन्दिरों में उनकी जड़मूर्ति स्थापन और घण्टादि बनाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो ? ॥

१५-(प्र०) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं वा मनुष्यपन की ? ॥

१६-(७०) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न स्वीक्रियते तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तां भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ॥ मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम् ॥

१७-(प्र०) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये वैष्णवाश्चेत्कीदृगर्थो वैष्णवशब्दस्य स्वीक्रियते ? ॥

१८-(७०) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवंशक्यन्तस्येदमिति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो विशेषार्थग्रहणस्य नियमाभावात् ॥ यथा भवद्विर्भक्तशब्दो गृहीतस्तथाविष्णोरयं शत्रुः पुत्रः पिता प्रभावर्शिशिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्थान् अन्येनापि ग्रहीतुं शक्या अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः ॥

१९-(प्र०) भवद्विर्बिष्णुः कीदृशो गृहीतः ॥

२०-(७०) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारीत्यादिवेति वदाम इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम् ॥ चतुर्भुजादिकं मन्यते चेत्साधयवत्त्वमनित्यत्वञ्च

१६-(७०) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के मुद्रादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते ? श्रीकृष्णजी के सदृश पराक्रम आप लोगों में क्यों नहीं दीख पड़ता ? । श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त होगये आप लोग कैसे जीवते बने हो ? और यदि अपने को मनुष्य मानते हो तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ ॥

१७-(प्र०) आप लोग वैष्णव हो वा अन्य ? यदि वैष्णव हो तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो ? ॥

१८-(७०) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है तो ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण के (तस्येदम्) इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है भक्तिविशेष रूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया वैसे कोई विष्णु शब्द के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है । इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं होसकता ॥

१९-(प्र०) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा है ? ॥

२०-(७०) यदि गोलोक, वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज द्विभुज, लक्ष्मी का पति देहधारी कहते हो तो व्यापक होना छोड़ो यदि चतुर्भुजादि आकृति वाला मानते

स्वाक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम् ॥ कुनः संयोगमन्तरासावययत्वमेव न सिद्धयति संयो-
गश्चानित्यस्तस्माद्विघ्नपक्षेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलशान्त्यया । ईश्वरस्य सावययत्वग्रहणं वेद-
विरुद्धमेव । "सपथेगान्धुकमकायमद्यगमस्ताधिरक्षुद्रमपापविद्धमित्यादि" श्रुतिधरोधात् ।

२१-(प्र०) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम् ? ॥

२२-(उ०) पुण्यं भवति न च पापमिति द्यूमः । स्वल्पकण्ठी तिलकधारणे मूर्ति-
पूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च
मद्वत्पुण्यं भवतीति मन्यताश्चक्रियताञ्च ॥ तत्र वेदविधिप्रतिष्ठाया अपावाप्त क्रियत इति
जल्पामः ॥ वेदेषु तु खलु कण्ठीतिलकधारणस्य पापाणामूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रापि विधिः
प्रतिष्ठा च न दृश्यते । अतोभवत्कथनं व्यर्थमेव ॥

२३-(प्र०) किं प्रतिष्ठात्वज्ञाम ? ॥

२४-(उ०) पापाणादिमूर्तिषु प्राणादीनाह्वय तत्र स्थापनमिति द्यूम इति नैव

हो तो सावयव उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य मानो और उगमें ईश्वरत्व छोड़ो । क्योंकि
संयोग के बिना सावयव होना नहीं सिद्ध होता और संयोग अनित्य है इससे संगोग
वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कलमाण है शान्त्यथा नहीं और ईश्वर को
सावयव मानना वेद विरुद्ध ही है । वेद में कहा है कि ईश्वर शरीर-छेदन और नाड़ी
आदि के बन्धन से रहित शुद्ध निष्पाप सर्वत्र व्यापक है इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है ॥

२१-(प्र०) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्ति के पूजने में पुण्य होता है
वा अपुण्य ? ॥

२२-(उ०) पुण्य होता है पाप नहीं ऐसा कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि यदि
थोड़े कंठी तथा तिलक के धारण और मूर्तिपूजन में पुण्य होता है तो बहुत कंठियों का
भार लादने चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों
के पूजने में बड़ा पुण्य होता है ऐसा मानो और करो । यदि कहो कि पृथिवी और
पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते तो वेदों में
कंठी तिलकधारण और पापाणामूर्तिपूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का
कहीं नाम है इसलिये आपका कथन व्यर्थ है ॥

२३-(प्र०) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है ? ॥

२४-(उ०) यदि कहते हो कि पापाण आदि की मूर्तियों में वेदमंत्र द्वारा प्राण
आदि का आह्वान कर स्थापन करना प्रतिष्ठा है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि

शक्यं वक्तुम् ॥ कथं प्राणादीनान्तर्कर्मणान्तर्जादृशनात् यदि तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविस्र्जनादि कर्मणि कुतो न दृश्यन्ते ? ताश्च कथं न कुर्वन्ति ? यदि प्राणादीनां यत्र कुत्र स्थापने शक्तिरस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवयन्ति ? भवतामंगनैव मद्धान् धनजातः प्रतिष्ठा च भविष्यति ॥ किञ्च पापाणादिमूर्तिनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोगवकाश एव नास्ति न ताड्य-
दिकृद्वाणि च । मृतकशरीराणां मध्ये तु यद्यावत्सामग्र्यं वर्तते एव प्राणादिभिर्विना दाहादिकाः क्रियाः जगैः क्रियन्ते यदा भवन्तः प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्तुस्तदा क-
स्यापि मरणमेव न भवेदंगेन महत्पुरुषस्य भविष्यति तस्माच्छ्रद्धाप्रमेवेदङ्गं कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम् ॥ यदि कश्चिन्मृतं शरीरं जीवेयत्तादृशं मनुष्यं न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीमः ॥ कुत ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यं जातं भविष्यती-
त्यवगन्तव्यम् ॥ तद्यथा जिह्वयै रसज्ञानम्भवति नान्यथेतीश्वरनियमोस्ति ॥ एतस्या-
न्यथाकरणे कस्यापि यथा सामर्थ्यं नास्ति तया सर्वेष्वीश्वरकृत्येषु नियमेष्विति बोध्यम् ॥

प्राण आदि और उगकी क्रिया मूर्तियों में नहीं दीख पड़ती जो उन मूर्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते ? और वे मूर्तियाँ उन कर्मों को क्यों नहीं करती ? यदि प्राणादिकों को जहाँ कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते ? केवल इसी एक कर्म से तुम को बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी और यह भी विचारो कि पापाणादि मूर्तियों में तो प्राणादि के जाने आने का अवकाश ही नहीं न नाड़ी और इन्द्रिय छिद्र हैं और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि समग्री विद्य-
मान ही रहती है केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थित कर देओ तब तो किसी का मरण ही न होवे ? इससे बड़ा पुण्य होगा इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये । हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे ऐसा मनुष्य न हुआ न होगा क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ न होगा यह निश्चय जानना चाहिये । जैसे जीम से ही रस का ज्ञान हो सकता है अन्य इन्द्रिय से नहीं यह ईश्वरकृत नियम है इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये ।

ईश्वरेण ये जडाः पदार्था रक्षितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति तथा चेतना जडाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः ॥ ईश्वरः सर्वव्याप्यस्त्यतः पापाणादिमूर्त्तिमध्येऽप्यस्ति पुनस्तत्पूजने को दोषः खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते ? ॥ पञ्चज्ञानमिति चेत्तर्हि पुष्पजोदनञ्चन्दनघर्षणनमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति । कुतः सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात् ॥ नोचेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनङ्किमर्थं न कुर्वन्ति ? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति ॥ तद्यथा चक्रवर्त्तिनं राजानमप्रति कश्चिद्ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमिताया भूमे राजास्तीति तमप्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम् ।

२५—(प्र०) किञ्चिन्मात्राणाम्पापाणपित्तलादिमूर्त्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम् ? ॥

२६—(उ०) नाद्यः कुतः किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादिमूर्त्तिपूजने पुण्यमभवति चेत्तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्त्तेर्दण्डप्रद्वारेण महत्पापं भवतीति दुष्यताम् ॥ अन्यच्च वेदानाभिहित-

ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं वे कभी चेतन नहीं होते वैसे चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते यह निश्चय है । यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है इससे पापाणादि मूर्त्तियों में भी है तो पापाणादि मूर्त्तियों के पूजने में क्या दोष है ? और क्यों खण्डन करते हो तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख पूजा करते हो तो पुष्प तोड़ना, चंदन घिसना और हाथ जोड़ कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो ? क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है जैसे पापाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिसजाना भी संभव है यदि नहीं मानते तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते ? जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है तो एक छोटीसी किसी मूर्त्ति आदि वस्तु में उस को मानना बड़ा पाप है । तद्यथा—जैसे चक्रवर्त्ति राजा से कोई कहे कि, आप दशहाथ भूमि के राजा हैं उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा यह जानना चाहिये ।

२५—(प्र०) छोटी २ बनी हुई पापाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है वा पाप ? ॥

२६—(उ०) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं क्योंकि यदि छोटी २ पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है तो बड़ी २ पीतल आदि की घंटादिरूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पाप होता है ऐसा जानो और भी देखो कि वेद में नहीं

पापाणादिमूर्त्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वीक्रियतामोचेनास्तिकत्वं स्वीकार्यम् ॥ न चरमः कुतः पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात् ॥ मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः ॥ तत्पूजनमुक्तिसाधनञ्चेन्न तस्या मूर्त्तरपिशिलिपिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयञ्जड-स्वायेति ॥

२७—(प्र०) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानङ्गा वा युक्तिः ? ॥

२८—(उ०) हरिपदाकृतित्वम् ॥ कृष्णललाटे राधया कुङ्कुमयुक्तेन चरणेन कृतं ताडनं ललाटस्य शोभार्थञ्चेति श्रूमः ॥ हरि शब्देन कस्य ग्रहणम् ? ॥ विष्णोरेवेति वदामः । नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम् ॥ अश्वत्थिहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणा-द्वेदानुक्तत्वादतपस्य पापजनकान्तिलकमिति वेद्यम् ॥ किञ्च तिलकत्वमिति ॥ त्रिपुण्ड्रो-र्ध्वपुण्ड्ररचनत्वमिति वदामः ॥ नैवंधकुमुचितम् ॥ तिलकस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्ति-लान्तिलककैवेत्यर्थस्य जागरुकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे क्लितस्य तिलकसंज्ञायां मता-

कहे पापाणादि मूर्त्ति के पूजन में महापाप ही होता है ऐसा मानो यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो । और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा तो मनुष्य जन्म इससे व्यर्थ जाता है यदि कहो कि मूर्त्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है तो ठीक नहीं क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया और स्वयं जड़ है तो अन्य को क्या मूर्त्ति दे सकेगी ॥

२७—(प्र०) ऐसे विशेष चिह्नयुक्त कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ? ॥

२८—(उ०) श्रीकृष्ण के पग के आकार तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मारी थी और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं । (प्र०) हरि शब्द से किस को लेते हो ? हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं यह कहना ठीक नहीं क्योंकि षोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ? वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है इसी से पापकारी है यह जानना चाहिये । तिलक क्या वस्तु है ? यदि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिविम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये यह सिद्ध है तो इस प्रकार के लम्बीमूत चन्दादि ललाट

यांभवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम् ॥

२९—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यंभवत्युत पापम् ? ॥

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजने कबडीतिलकधारण्ये च दोषो नास्ति कुतः यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशीत्यतः ॥

३१—(प्र०) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या ? ॥

३२—(उ०) न प्रथमः कुतो दुःखस्य भावनाकोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या ॥ न द्वितीयः कथं विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनेया विना सिद्धिरिव न भवतीत्यतः ॥ यदि भावना सत्यास्ति चेत्सिद्धिं भवच्छरीरे रोजाख्ययानंभावनाहृत्त्वोपपत्त्यासीमाद्वि यावता कालेन यावद्देशान्तरन्तधानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमरमान् गमये-
ष्वेत्ता तु भावना सत्या नान्यथा ॥ पुनः पापाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधि-
घृतदुग्धभावनान्धूल्याङ्गोधूमपिष्टशर्कराभावनानां शर्करायान्तनुलभावनान्तथा जले चेत-

पर के लेपन की तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है यह निश्चय जानना चाहिये ॥

२९—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादि में पाप होता है वा पुण्य ? ॥

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजन और कपटी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है क्योंकि जिसकी भावना जैसी होती है उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है ॥

३१—(प्र०) भावना सत्य है वा मिथ्या ? ॥

३२—(उ०) पहिला पक्ष भावना का सत्य मानना ठीक नहीं क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं फिर भी सब को सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख होता ही है इससे भावना सत्य नहीं । दूसरा पक्ष भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं क्योंकि भावना के बिना विद्या, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती । इससे यथायोग्य भावना करना ठीक है । यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है तो आप के शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुँचती है उतने समय में उतनी दूर आप का शरीर हमको पहुँचा देवे तब तो भावना ठीक नहीं तो मिथ्या ? फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध दही घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धन दरिद्र अपने में चक्रवर्ती राजा की और चक्रवर्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना

नभावनांचितने जडभावनान्दरिद्रः स्वस्मिन्प्रकृतिभावनाञ्चकचर्त्ती स्वस्मिन्प्रद्विद्रभावनाञ्चकुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम् । तर्हि भावना का नाम ॥ भावना तु पापाणे पापाण्यभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थ ज्ञानमिति ब्रूमस्तस्मिन्स्तद्वुद्धिरिति ॥ तथा रोटिकायां पापाण्यभावना पापाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिन्स्तद्वुद्धिर्नमोह्यभावना चेति ॥

३३-(प्र०) प्रतिमाशब्देन किञ्चुह्यते ॥

३४-(उ०) पूजनार्था चतुर्भुजादिमूर्तिरिति वदामः ॥

३५-(प्र०) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ॥

३६-(उ०) प्रतिभीयते यथा सा प्रतिमा किञ्चाऽनया प्रतिभीयते ॥ ईश्वर-शिवनारायणादयश्चेति वदामः ॥ किञ्च मोहनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादि-शरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलनङ्कृतङ्कितमन्यतमर्थः क्रियते ? ॥ “तुलामानं प्रतामानं सर्वश्व स्यात्तुलक्षितम् ॥ पदसु पदसु च भासेषु पुनरेव परीक्षयेदिति ॥”

करे और वह वैसी ही ठीक २ सिद्ध हो जावे तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये । तो फिर भावना किस का नाम है ? पत्थर में पत्थर रोटि में रोटि की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है । अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है । रोटि में पत्थर और पत्थर में रोटि की भावना करना मिथ्या ज्ञान अन्य में अन्य बुद्धि अमरूप अभावना कहाती है ॥

३३-(प्र०) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो ? ।

३४-(उ०) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्ति को लेते हैं ।

३५-(प्र०) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो ? ।

३६-(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे वह प्रतिमा है, ऐसा अर्थ करते हो तो किस का स्वरूप इससे जाना जाता है यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं ? धर्मशास्त्रस्थ राजधर्म में लिखा है कि तराजू और प्रतीमान=चाट सब ठीक २ रखने चाहिये और छः २ महीने में इनकी परीक्षा

मनुसाक्ष्यं बोध्यम् ॥ प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानाम्पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः ॥ “न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यज्ञ” इति यजुस्संहिताया द्वाविंशोऽध्याये ॥ ईश्वरस्य प्रतिमातोलनसाधनमेव न भवति तस्याऽनुल-
त्वात् ॥ अतएव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थपदेति बोध्यम् ॥

३७-(प्र०) पुराणशब्देन किङ्कृतं ॥

३८-(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः ॥ नैवंशक्यं पुराण-
शब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्याचर्त्तकार्यत्वात् ॥ यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनाः
र्वाचीनादीञ्छब्दार्थान्याचर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दानवीनाद्यर्थोऽस्ति ॥ तद्यथा केन-
चिदुक्तम्पुराणं घृतपुराणो गुडः पुराणो शाटीचेत्यर्थाश्च नवीनघृतञ्चेत्यादि व्याचर्त्तते त-
स्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति न ब्रह्मवैवर्त्तादीना-
ञ्चेति “ब्राह्मणानीतिहासःपुराणानीति” दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत” ॥ “पुराण-
विद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्य” इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्व्यनन्तरश्रवदिनपर्यन्तश्रुवेदादिकं श्रुत्वा-

राजा करावे इत प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड, घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है ॥ और यजुर्वेद बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मंत्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल साधन का निषेध किया है क्योंकि ईश्वर अनुल है इसी से आप का किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये ॥

३७-(प्र०) पुराण शब्द से क्या लेते हो ? ॥

३८-(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेते हो सो ठीक नहीं क्योंकि पुराण शब्द विशेषण वाचक होने से व्यावर्त्तक अर्थवाची होता है । जैसे पुराने प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं । जैसे किसी ने कहा कि पुराना घृत पुराना गुड पुरानी साड़ी इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई । इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण होता है किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं, कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि ब्राह्मण ग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं । अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ योद्धी पुराण की कथा कहे सुने पुराणविद्या वेद का व्याख्यान दशमे दिन सुने अर्थात् नवदिन तक यज्ञ में श्रुवेदादि कह के दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का

ऽऽध्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानादय आचक्षीर-
 ऽब्रूयुश्चेति ब्राह्मणावेदानामेव ग्रहणज्ञान्यस्येति साध्यात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चे-
 ति ॥ परन्तु मतमस्माकं खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः ॥ ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन
 सम्प्रदायस्यैर्जाविकार्यभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानीमः यथा शि-
 वादिनामव्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचि-
 तास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम् ॥

३६—(प्र०) देवालयशब्देन भवद्भिः किं गृह्यते ? ॥

४०—(उ०) मूर्त्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकर्णार्थानि मन्दिराणीति
 प्रतिजानीमः ॥ नैवं शक्यं कुनोऽत्र वेदविधेरसावाद्भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति यत्र होमः क्रियते
 तदेव देवालयशब्देनोच्यते कथं होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात् ॥ “अध्यापनम्ब्रह्म-
 यज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमाद्देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ १ ॥ स्वाध्या-
 येनार्चयेत्तर्पन् होमैर्देवान्यथाविधि । पितृञ्छादैर्नृनञ्चैव भूतानि बलिकर्मेणा” ॥ २ ॥

प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहे और सुने इस प्रकार पुरा-
 णशब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य का नहीं ऐसी साक्षी है और
 वेद ही सब से पुराने हैं । परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं यही सिद्धान्त है ब्रह्म-
 वैवर्त्तादि पुराण व्यासजी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को
 भ्रान्ति करानेवाले बनाये हैं । जैसे शिव आदि के नाम के छल से तंत्र और याज्ञ-
 वल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि
 पुराण जानो ॥

३६—(प्र०) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ? ॥

४०—(उ०) मूर्त्ति को स्थापन करने पूजने के स्थान जिनमें की घण्टानाद
 आर्त्ति आदि करते हैं उनको देवालय कहते हो तो ठीक नहीं क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद
 से विरुद्ध और अतियुक्त होने से । इससे जिसमें होम किया जाता वही स्थान
 देवालय शब्दवाच्य हो सकता है क्योंकि देवपूजा शब्द से होम का ग्रहण है । धर्म-
 शास्त्र में लिखा है कि, पढ़ाना—ब्रह्मयज्ञ । तर्पण—पितृयज्ञ । होम—देवयज्ञ । वैश्वदेव
 भूतयज्ञ और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथा-
 विधि होम से देवपूजन, आर्द्धों से पितृपूजन, अर्जों से मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से
 प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये ॥ इससे सिद्ध हो गया कि होम ही से देवपूजा

होमैनेष देवपूजनं भवतीति मनुनोक्तत्वाद्भवत्कृतोऽर्थोऽसंगतपवेति निश्चयः ॥ अतो होमस्थानं यज्ञशाला देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः ॥

४१—(प्र०) देवशब्देन किङ्कृतं ? ॥

४२—(उ०) ग्रहविष्णुमहादेवादीनमपूजनार्थास्तन्मूर्त्तीश्चेति गृहीतः ॥ नैवं योग्यम् ॥ “यत्र देवतोच्यते तत्र तद्विज्ञो मन्त्र” इति निरुक्ते । “मन्त्रमयी देवतेति” पूर्वमीमांसायाम् ॥ तथा मन्त्रमयी देवतेति ग्राह्ये ॥ “आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति” मनुस्मृतौ ॥ “मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव” इति तैत्तिरीयोपनिषदि ॥ इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकारणमन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाञ्च देवदेवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहादुपासनाज्ञानकारणद्वयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीकाराद्भवत्कृतोर्थो मिथ्येवेति निश्चयः ॥ एवं सति पापाणादिमूर्त्तीन् देवताशब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योक्ति किन्तु पशुरेव च ॥ योऽन्यां देवतामुपास्ते स पशुरेव देवानाम् ॥ “उत्तिष्ठत जागृत तज्जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ” इत्याश्रुतत्वात्सर्वमस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम् ॥

होती है यह मनु की साक्षी है इससे आपका किया अर्थ असंगत है यही निश्चय जानो । इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेनी चाहिये ॥

४१—(प्र०) देवशब्द से क्या लेते हो ? ॥

४२—(उ०) पूजने के लिये ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उन की मूर्त्तियों को देव शब्द से लेते हो सो ठीक नहीं क्योंकि वेद में जहाँ २ देवता कहा है वहाँ २ उस देवता नामवाचक शब्दयुक्त मंत्र का ही नाम देवता है यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मणभाग में मन्त्रस्वरूप ही देवता माना है मनुस्मृति में आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है इसलिये आत्मा ही सब देवता है तैत्तिरीय आरण्यक में माता, पिता, आचार्य, अतिथि को ही देवता माना है । इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकारण में मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा उपासना और ज्ञानकारण में सर्वत्र देवता शब्द से ईश्वर का ही स्वीकार है इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है । जब ऐसा है तो जो देवता शब्द से पापाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है । और उपनिषद् में यही कहा है कि जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है वह देवताओं में पशु ही है इसलिये हे मनुष्यो ! उठो जागो उस आत्मा को जानो अन्य की उपासनारूप प्राणियों को छोड़ो इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियां कदापि देवता नहीं हो सकतीं यह निश्चय जानो ।

४३—(प्र०) देवल देवलक शब्दाभ्यां किं गृह्यते ? ॥

४४—(उ०) मूर्तिपूजारीस्तदधीन जीविकावतश्चेति ब्रूमः ॥

नैवमुचितं वक्तुम् ॥ कथं; “यद्विस्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः ॥ अयज्वनान्तु यद्विस्तमासुरं तत्प्रचक्षत” इति मनुसाहच्यविरोधात् ॥ यज्ञशीलानां यज्ञार्थं यद्विस्तं-
देवशब्देनोच्येत तद्व्याप्तिं गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽयन्देवलो निष्ठाः ॥ यो यज्ञार्थं
यद्वनंतश्चोरयति स देवलकः ॥ कुत्सितो देवलो देवलकः कुत्सित इति सूत्रेण क
प्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम् ॥

४५—(प्र०) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्तिन्न ? ॥

४६—(उ०) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो नान्यथेति स्वीक्रियते ॥
शक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थं तथा धर्मस्थापनार्थमधर्मनिर्मुलार्थञ्च ॥ नैव-
न्याय्यद्वक्त्वात्सर्वशक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामिन्त्वाद्ब्रह्मत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वात्तन्मप-
त्वाच्चेष्टरस्येति सर्वशक्तिमान्हीश्वरोऽस्ति स सर्वन्याय्यकार्यकर्तुं समर्थोऽस्त्यसद्वा-

४३—(प्र०) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो ? ॥

४४—(उ०) यदि कहते हो कि मूर्तिपूजने और मूर्तिपूजा से जीविका
करनेवाले देवल और देवलक कहते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा
है कि जो यज्ञ करनेवालों का धन है वह देवल और यज्ञ न करनेवालों का
धन आसुर कहाता है, देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेने
वाला देवल निन्दित कहाता है यहां व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वरब्द का लोप
हो जाता है । और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है वह देवलक अतिनिन्दित
कहाता है क्योंकि व्याकरण के (कुत्सिते) सूत्र से निन्दित अर्थ में क प्रत्यय
होता है इससे आप का किया अर्थ मिथ्या है यह जानना चाहिये ॥

४५—(प्र०) ईश्वर के जन्ममरण होते हैं वा नहीं ? ॥

४६—(उ०) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत मनुष्यादि के जन्ममरण से
विलक्षण दिव्य जन्ममरण होते हैं अन्यथा नहीं, यह स्वीकार है, क्योंकि भक्तों के
उद्धार दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये
अस्वामाविक जन्म ईश्वर धारण करता है तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्ति-
मान्, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निश्चल निष्कम्प है । जैसे
ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है

येन यश्च, शरीरधारणादिसहायेन कार्यं कर्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्यं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नयेत् ॥ यथास्वत्वसहायेन सर्वमिदं क्षणद्वयं धारयति तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननं कर्तुं समर्थोऽसहायेनापदेशम्भ-कोद्धारन्धर्मस्थापनमधर्मदुष्टविनाशश्च ॥ यथा सर्वशक्तिमत्त्वमीश्वरे स्वीक्रियते तथा-न्यायकारित्वादपि स्वभावादेश्वरे स्वीकार्याः ॥ अन्यथा रत्नाशाद्यधर्ममपिकर्तुं समर्थो भवेदत ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च ॥ प्रकृत्याकाशादिकं सर्वजगदीश्वर-स्याऽपेक्षयात्यल्पपुच्छसान्तश्चास्ति पुनस्तस्य का शरीरसामग्री यतो निवासार्थम-धिकरणम्भवेत्तस्माद्वृद्धिकमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः ॥ "सपर्यगाच्छुक्क-मकायमब्रह्ममस्नाधिरध्वशुद्धमपापविद्धम्" ॥ "तदन्तरस्य सर्वस्य तद्गुल्वस्यस्यास्य बाह्यतः" ॥ "सत्यं ज्ञानमनन्तस्त्रैलोक्यं" ॥ "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषस्य बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" ॥

फिर जो शरीर धारणादि सहाय से कार्य कर सके अन्यथा न करसके तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता । जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों का विनाश कर सकता है । जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य हैं । यदि ऐसा न मानोगे तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ होनावे तो ईश्वरता ही न रहे, इससे ईश्वर अनन्त अनन्मा और अविकारी है । प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा तुच्छ और अन्तवाला है । फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है जिसमें वह समाय जावे उससे बड़ा कोई भी नहीं यह सब वेद शास्त्र से सिद्ध है तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है वेद और उपनिषदों के प्रमाणः—वह सब में व्याप्त प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अछेद्य, अपेद्य नाड़ी आदि के कण्ठ से रहित, शुद्ध निर्मल, निष्पाप है । वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है । वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सब से बड़ा अनन्त है । वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप सब प्रकार की मूर्त्ति से रहित सब के बाहर भीतर वर्तमान और अनन्मा है । वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और

“अशब्दमरूपमरूपमव्ययन्तथाऽऽसन्नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तममृतः पर-
मशुद्धश्चिदायं तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते” “अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्नि-
हितो गुहायाम्” ॥ “वेदाहमेतं पुरुषं ममाहन्तमादित्यवर्णान्तमसः परस्तात् । तमेव विदि-
त्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति” यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः ॥ ईश्वरस्याऽव-
तारोऽयोज्ज्वलमरणे नैव भवत इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः ॥

४७-(प्र०) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ? ॥

४८-(उ०) निराकारश्चेति वदामः ॥ निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्चा-
येत तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति ॥ मैवं वाच्यं कुतः ? सर्वासां शक्तीनां
सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वाच्चिराकारोदय साकारस्योत्पत्ताच्चेति ॥ तद्यथा ॥
“तस्माद्वा पतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः,
अद्वापः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिम्योऽन्नम्, अन्नादेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एव
पुरुषोऽन्नरसमयः” ॥ आत्माऽकाशौ निराकारौ तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत तत्त्रिगु-

नाश रहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्त्व से परे निश्चल है उसी को ठीक २ जान
के मृत्युरूप ग्राहक मुख से छूटा है । वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है इस
जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है । मनुष्य को ऐसा विचार रख-
ना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूँ कि जो सब से बड़ा पूर्ण सूर्य के तुल्य
प्रकाश वाला अन्धकार से परे है । क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच
सकता है अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है । इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर
का अवतार अर्थात् जन्ममरण नहीं होते यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये ॥

४७-(प्र०) ईश्वर साकार है वा निराकार ? ॥

४८-(उ०) यदि कहो कि निराकार है तो ठीक है और जो निराकार होने में
तुम को शङ्का है कि जो निराकार हो तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके और
हाथ आदि साधन के बिना कैसे जगत् को रच सके सो यह ठीक नहीं क्योंकि सब
प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं इससे निराकार से ही सा-
कार उत्पत्ति हो सकती है । जैसे प्रमाण—उस ही इस आत्मा से, आकाश, आकाश से
वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न,
अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है
इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में आत्मा और आकाश निराकार हैं । आकाश से द्विगुणा स्थूल

याः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निराकारात्सूक्ष्मात्स्थूलमिदञ्च जगज्जायते तथा च स्थूलमयस्कान्तपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतं भूत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितुं द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्था इत्यतो निराकारादेव साकारजगज्जायत इति निश्चयः ॥ 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' ॥ "स वेत्ति विश्वञ्च च तस्य वेत्ता तमाहुरप्रभस्पुरुषस्पुराण" इत्यादि श्रुतिभ्यः ॥ हस्तपादाद्यर्क्षैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्तमानत्वात्साकार ईश्वरस्साकारात्साकारोत्पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादि वागजालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यवगन्तव्यम् ॥

४१-(प्र०) ईश्वरो मायावी न वेति ? ॥ मायाशब्दस्य कोऽयं क्रियेत ? ॥

५०-(उ०) मयेश्वरशक्तिरित्युच्यते ॥ नैवं योग्यमवितुम् ॥ कथं छलकपट-
धोरर्थो मायाशब्दस्यापातात् ॥ कश्चिद्वेदव्यममायावीत्यनेन किञ्चन्यतेऽयं छली कपटी
वेति ॥ ईश्वरस्य मायाऽविद्यादि दोषरहितत्वात्त्रिमलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्व-
भाव पवेतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम् ॥ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः

वासु-और- त्रिगुणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है । इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है और स्थूल सुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीरा के प्रत्यक्षात् से सब मनुष्य देख दिख सकते इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है । और बिना हाथ पग के शीघ्र ग्रहण करता बिना चक्षु के देखता बिना कान के सुनता वह सब को जानता उसका जाननेवाला कोई नहीं उस को सनातन पूर्णत्व कहते हैं इत्यादि श्रुति प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के बिना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में हैं ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है साकार से साकार की उत्पत्ति होती है हस्तपादादि के बिना ईश्वर जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता इत्यादि वागजाल मनुष्यों का प्रमाद से ही निश्चय होता है ॥

४९-(प्र०) ईश्वर मायावी है वा नहीं ? और मायाशब्द का क्या अर्थ करते हो ? ॥

५०-(उ०) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है तो यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि छल कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है । कोई कहे कि यह मायावी है इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है । ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित है इसी से निर्मल निरञ्जन नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्तस्वभाव ही है । ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है क्योंकि इसमें

पुरुषविशेष ईश्वर" इति पतञ्जलिसादयस्य विद्यमानत्वात् ॥

५१—(प्र०) ईश्वरस्त्वगुणोऽस्ति निर्गुणो वा ? ॥

५२—(उ०) उभयमिति प्रतिजानीमः । तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्त्वकीयैर्गुणैस्स-
गुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वादिर्गुणोऽपि स एव ॥ एवमीश्वरोऽपि सर्वज्ञाना-
दिभिः स्वकीयैर्गुणैस्त्वगुण एवज्जडत्वजन्ममरणाऽज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव निर्गुण-
श्चेति निश्चयः । " एको देवस्सर्वभूतेषु गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥ सर्वाध्यक्षस्स-
र्वभूताधिवासस्साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति " साध्याद्ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णानृसि-
न्हादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चयः ॥ किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्रष्टा धारयिताऽन्त-
र्यामी सर्वशक्तिमान्नायकारो स्वामी चास्ति तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेद्वर इति
वेदितव्यम् ॥

५३—(प्र०) भवद्भिर्गुक्तिर्मन्यते न वा ? ॥

५४—(उ०) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः

श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है—अविद्या आदि क्लेशों और शुभाशुभ
कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहा जाता है ॥

५१—(प्र०) ईश्वर सगुण है वा निर्गुण ? ॥

५२—(उ०) ईश्वर सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से है यह निश्चित है जैसे
घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने
से निर्गुण भी वही है ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण और
जन्ममरण जड़पन अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है । उप-
निषद् में कहा है कि एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है । सब
का अन्तर्यामी सब का अध्यक्ष सब प्राणि अप्राणि जगत् का निवासस्थान सब
का साक्षी चेतन केवल एक और निर्गुण है इस प्रमाण से ब्रह्मादि देवता और श्री-
रामचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं क्योंकि एक
वही ईश्वर देव है ऐसा कहा है । किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा और धारणकर्ता
अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् नायकारो और स्वामी ब्रह्मादि को सेवने योग्य उनसे
भिन्न एक ही ईश्वर है ऐसा जानना चाहिये ॥

५३—(प्र०) आप लोग मुक्ति मानते हो वा नहीं ? ॥

५४—(उ०) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की

चतुर्विधाया मुक्तिः कीदृशोऽर्थः विज्ञायते ॥ ईश्वरजीवयोस्समनि लोके निवासस्सा सा-
लोक्यमुक्तिरित्यादयोर्था गृह्यन्ते ॥ नैवं शक्यं विज्ञातुं कुतः सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचि-
ताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्हमादीनामपि सा मुक्तिः सिद्धेति ॥ सामीप्यमुक्तिरपि
सिद्धा सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात् ॥ सायुज्यमुक्तिरपि
सर्वेषाञ्जीवानां स्वतस्सिद्धा ॥ कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतना-
पत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात् सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां साधारणाऽस्ति ॥ कुतः
ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति ॥ सा चतुर्धा मुक्तिः
व्यर्थेति मन्तव्यम् ॥ का तर्हि मुक्तिरिति वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते ॥
नैवं वाच्यमत्र पराधीनत्वादतएव दुःखापत्तेरच्चेति ॥ वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलुमुक्तिरै-
वास्ति नान्येति ॥ तद्यथा यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमम्रहातत्त्वविज्ञा-
नन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन

मुक्ति हम मानते हैं । (प्र०) चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो ? । (उ०)
एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना सालोक्य मुक्ति इत्यादि अर्थ लेते हैं, यह
मानना तुम्हारा ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के स्वे और नियत किये लोक में सब जीवों
का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह मुक्ति सिद्ध है । और सब पदार्थों
में अन्तर्गामी व्यापक होने से ईश्वर सब के समीप में वर्त्तमान है इससे सामीप्य
मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है । और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वतः सिद्ध ही है । क्योंकि
अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि-
गुणवाले हैं । और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध ही है । क्योंकि ईश्वर
के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उस में व्याप्य होने से व्याप्य व्यापक
सम्बन्ध स्वतः सिद्ध ही है ॥ इसलिये वह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है ।
जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे ? यदि कहो कि वै-
कुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं यह भी तुम्हारा कहना
ठीक नहीं क्योंकि वहाँ पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा तो दुःख को मुक्ति नहीं
कहा जाता । वेद और मुक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है अन्य नहीं जैसे
यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त
ब्रह्म को जानना उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब
दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति मुक्ति कहाती है

सह सदैवावस्थितिमुक्तिरित्यतो भवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः ॥ सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखमिति मनुसास्यात् ॥

५५-(प्र०) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मत आहोस्वित्तद्विरोधिनः ? ।

५६-(उ०) न पूर्वः ॥ चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात् ॥ वेदविरोधात्पाखण्डिन एव ते त्विति वेद्यम् ॥ "पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाऽऽकूटान् ॥ हैतुकान्त्रक-
वृत्तांश्च घाह्मात्रेणापि नार्चयेदिति"- मनुक्तत्वात् ॥ एते सम्प्रदायशब्दार्थाद्वा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थाद्वा एवेति । सम्यक् प्रकृतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा इति विवेकः ॥ कदाचित्केलचित्तेषां विश्वास एव न कर्तव्यः ॥

५७-(प्र०) श्रीकृष्णः शरणं मम । अयमत्तरसमुदायः सत्योऽस्ति मिथ्या वेति ? ॥

५८-(उ०) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्वान्मिथ्यैवेति ॥ वेदोक्तगायत्रीमन्त्रो-
पदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽत्तरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम् ॥

इससे आप की मानी मुक्ति मिथ्या ही है यह निश्चय जानो, क्योंकि परवश होना सन दुःख और स्वाधीन होना सुख है तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है ॥

५५-(प्र०) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं वा विरोधी ? ।

५६-(उ०) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है । वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं यह जानना चाहिये धर्मशास्त्र में कहा है कि—पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे वि-
डाल के स्वभाव से युक्त शठ स्वार्थी बगुला के तुल्य परपदार्थ पर ध्यान रखने वालों का वाणी से भी सत्कार न करे । ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नहीं हैं किन्तु सम्प्रदाह अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं अच्चे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया ऐसे जन जिनमें हों वे सम्प्रदाह कहाते हैं कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये ।

५७-(प्र०) (श्रीकृष्णः शरणं मम) यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है वा मिथ्या ? ।

५८-(उ०) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है । वे-
दोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़ कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदाय-
रूप मन्त्र के उपदेश से आप को नास्तिकता और नरक-प्राप्ति होगी ॥

५६—(प्र०) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ? ॥

६०—(उ०) यः धिया सहितः कृष्णः स मम शरणास्त्विति ॥ नैवं सक्थं कुतः श्रीकृष्णो मम शरणाप्राप्तोतु द्विनस्त्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोयमत्तरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं धिक्वासद्व केनचिन्नैव कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ एवमेव 'नमोनारायणाय' 'नमश्शिवाय' 'नमो भगवते वासुदेवाय' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विद्महे' इत्यादयोप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्त्रव्याः ।

अथ ब्रह्मसम्बन्धप्रदायस्थोपदेशोयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थादृष्टसम्बन्धोऽत्तरसमुदायः सज्जनैर्वैदितव्यः ॥ श्रीकृष्णः शरणास्मम सहस्रपरिचत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभाबोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माश्च दारागारपुत्रासन्निधेहपरायणात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ॥ सहस्रपरिचत्सरत्यादि

५६—(प्र०) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ? ॥

६०—(उ०) श्री-लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं तो मेरे शरण हों यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों वा मेरे शरण को नष्ट करें इत्यादि अर्थ भी सम्भव है अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में "प्राप्तोतु" पद नहीं है किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो वैसे कोई "हिनस्तु" आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है उसको तुम कैसे रोक सकोगे ? इस कारण तुम्हारा यह अन्तरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक अशुद्ध है । इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये । इसी प्रकार "नमो नारायणाय । नमः शिवाय । नमो भगवते वासुदेवाय । ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विद्महे" इत्यादि अन्तरसमुदायरूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहिये ।

और ब्रह्मसम्बन्धप्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः अष्टसम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिये जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र "श्रीकृष्णः शरणं ०" इत्यादि है । इसका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण मेरे शरण हों । सहस्रो वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग उससे हुआ जो दुःख और क्लेश उनसे घेरा हुआ मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूँ और हूँ कृष्ण । मैं तुम्हारा दास हूँ । सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है क्योंकि तुम्हारा ब्रह्म

सहस्रपरिगणने व्यर्थम् ॥ कुतः ब्रह्मस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभवात्प्रत्यक्षता च न विद्यते सहस्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोगे परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात् ॥

६१-(प्र०) कृष्णशब्देन किञ्छुहते ? ॥

६२-(उ०) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वेदामः । नैतत्सत्यमस्ति कस्माज्जन्म-
मरणव्रतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मात्माभावात् ॥ गवां पशूनां यो लोकस्तु दुःखरूपो
दुर्गन्धरूपत्वास्तत्र ये वसन्ति तेऽप्यसम्यां विद्याहीना अभावीवन्मूर्खा विज्ञेयाः ॥ किञ्च
अस्मात्प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लेर्गोलोकात्पृथक्श्रद्धान्गोलोकपदं नास्त्येवमन्तर्गम्यम् ॥ तदु-
पासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेषां तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ कृष्णवियोगजनितता-
पक्वशाऽनन्ततिरोभावोऽहमित्यादि ॥ इदमशुद्धम् ॥ कुतस्तापक्वशयोः पुनस्तत्त्वादेकार्थ-
त्वाच्च ॥ पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरुद्धादेशकालवस्तुपरिच्छेदपवासम्भावनीयः ॥
कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवस्वाज्जन्ममरणादियुक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः ॥ तस्मै

और तुम सर्वज्ञ नहीं कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ ऐसा निश्चय कर सको
और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए ।
इसलिये कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्णगणना अशुक्त है ॥

६१-(प्र०) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ? ॥

६२-(उ०) यदि कहते हो कि गोलोक निवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते
हैं तो यह ठीक सत्य नहीं क्योंकि जन्ममरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो
सकते । गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के वदने से दुःखरूप होगा उसमें जो
वसते हैं वे अहीरों के तुल्य मूर्ख विद्याहीन असम्य जानने चाहिये और विचार के
देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के गामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं
ऐसा जानना चाहिये । उस गोलोक निवासी के उपासक जो वहां जावेंगे वे भी वैसे
ही होते हैं यह जानना चाहिये । और जो कहा था कि अनन्त काल से कृष्ण के
वियोग से हुए दुःख क्लेश से उपा हुआ मैं हूँ इत्यादि यह अशुद्ध है क्योंकि ताप और
क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्त दोष है । फिर अनन्त क्लेश
की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना
सम्भव नहीं । काले गुण से युक्त शरीरवारी जन्ममरण वाले श्रीकृष्ण को भगवान्
कहना भी योग्य नहीं हो सकता । और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण,

देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्दर्माणां समर्पणमेवाशक्यं सदैव तन्निष्ठत्वात्त्वाभाविकत्वाच्च ॥
 समर्पणमभवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्या एव समर्पणं स्यात्तत्फल-
 भोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णार्थैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात् । दारागपुत्राप्तचित्ते-
 हानामपिसमर्पणस्यापफलकमेव कुतः परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात् ॥ तद्ध-
 र्माश्चेतिपुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहपराशीति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यङ्कृतो
 लिङ्गवैषम्यनिर्देशात्परशब्दस्य त्रिपु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च ॥ आत्माना सह समर्पयामि
 दासोऽहं कृष्ण तदासोऽत्यन्तोऽनर्थोऽक्षरसमुदायः ॥ एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्माना
 सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव दासोऽर्थाच्छूद्र एवेति ॥ शूद्रस्य तु जुगुप्सि-
 तमिति मनुसाह्यदर्शनात् । अस्याभिप्रायो बल्लभेन सिद्धान्तरहस्यादिग्रन्थेष्वनैकबालबुद्धि-
 मनुष्यमन्यार्थः पापवृद्धचर्चश्च निरूपितः ॥ तद्यथा ॥ "आवणस्याऽमले पक्ष एकादृश्यां
 मद्वा निशि ॥ साक्षाद्भगवता प्रोक्ततदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥ ब्रह्मसम्बन्धकरणात्त्वसर्वे

अन्तःकरण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है क्योंकि शरीर इन्द्रियादि
 अपने २ साथ स्वाभाविक स्थित है अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटा कर दूसरे को नहीं
 दिये जा सकते । यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है तो मल मूत्रादि और पीड़ा,
 राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे और मलादि का फल
 दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे यही प्रकट न्याय है । और स्त्री,
 घर, पुत्र, प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफल वाला ही क्योंकि परस्त्री का
 परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है । तथा (तद्धर्माः) इसका पुल्लिङ्गनिर्देश
 और (वित्तेहपराशि) इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्यसम्बन्ध भी अशुद्ध ही है ।
 क्योंकि परशब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है । हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूँ ।
 आत्मा के साथ समर्पण करता हूँ यहां पर्यन्त अक्षर समुदायरूप बल्लभ का मन्त्र अनर्थक
 है जब जीवात्मा एक ही वस्तु है दो नहीं हैं तो फिर आत्मा के साथ देह और इन्द्रिया-
 दिकों का समर्पण करता हूँ यह कथन अशुद्ध असम्बद्ध ही है । और दास अर्थात् शूद्र
 हूँ शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये यह मनुस्मृति की साक्षी है सो धर्म-
 शास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो । इस उक्त ब्रह्मसम्बन्ध नामक मन्त्र का अभिप्राय
 बल्लभ ने सिद्धान्त रहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप
 बढ़ाने के लिये निरूपण किया है (आवणस्या०) आवण महीने के शुरुपक्ष की एका-
 दशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है उसको ज्यों का त्यों

पान्देहजीवयोः ॥ सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥ सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिकपिताः ॥ संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ॥ ३ ॥ अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन । असमर्पितवस्तूनान्तस्माद्दर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥ निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ॥ न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम् ॥ ५ ॥ तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ॥ दत्तापहारवचनतथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥ न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ॥ सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥ तथा कार्ये समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः "गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिघर्षणम् ॥ ८ ॥ गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदपि यैव हि" ॥ प्रथमतस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव मेति कृष्णस्य मरणे जातैव न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि स इदानीं बल-

कहते हैं । ब्रह्म सम्बन्धरूप मंत्र के लेने से सब के जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति होजाती है और दोष पांच प्रकार के हैं ॥ एक सहज स्वाभाविक, २-देश से हुए, ३-कालभेद से हुए, ४-लोक वा धर्मशास्त्र में कहे, और ५-वेद में कहे, ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणीरूप मंत्र से होस-कती है । परन्तु श्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होने वाले दोषों को न मानना चाहिये अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु समर्पण करने से ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये । इससे गुसाईयों के चेले निवेदन करने के वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें यही नियम है । देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि बिना समर्पण किये गुसाई के चेले किसी वस्तु को भोगें और समर्पण यही है कि स्वामी गुसाईजी चेलों के सब पदार्थों का भोग ग्रहण कर लेंगे ॥ इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें ॥ गुसाईजी के मत से भिन्नमार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसाईजी के चेला चेला कभी न सुनें । जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है वैसा होना चाहिये । वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सब के बीच में ब्रह्मबुद्धि करें । वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करें ॥ जैसे गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गाह्वय हो जाते हैं वैसे अपने मत के दोष भी गुणरूप समझने चाहिये ॥ हमने पहिले से कई बार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते । जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पाँचहजार वर्ष व्यतीत हुए सो उन्होंने अब बल्लभ

भस्य समीपे कपमिदमुक्तवान् किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति ॥ किञ्च वल्लभेनायं पाण्डरा-
जालोऽधर्मकरणाथो रचित इति जानीमः ॥ साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिति केवलं वल्लभेय तस्य
वल्लभस्य विधेयमिति तस्मात्तदन्तरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बन्धमत्तापत्राच्च
सर्वदोषनिवृत्तिरिति ॥ दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम् ॥ नष्टा भवि-
ष्यन्तीति द्यूयश्चेत्तदचिन्नैव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यस्यैव गच्छन्ति किन्तु
कस्यैव कृतं शुभाशुभफलभ्युक्ते नान्यः फलमिति ॥ हरिः कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पाप-
दोषा गच्छेयुश्चेत्तर्हि तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः ॥ कृतः
स्वयं कृतानाम्पापपुरयकर्मफलानां स्वभोगेनैव ज्ञयादिति न्यायाद्यल्लभकृता कल्पना व्यर्थ-
वेति निश्चयः ॥ सहजादित्यादि ॥ सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तत इत्यस्तेषां
सहजत्वादनिरादयत् ॥ सर्व समर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुप्यादिदोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्ण-
सुखदुःखाऽज्ञानानाम्भगवताम्भवच्छिद्वप्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात् ॥ तथा देशकालोऽथो अपि

के समीप आकर कैसे कहा ? किन्तु कदापि नहीं कहा केवल बनावट ही है ।
किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है
यह जान पड़ता है । साक्षात् भगवान् ने कहा यह वल्लभ का केवल झल ही
जानना चाहिये । इसलिये उस ब्रह्म सम्बन्ध नामक अन्तर समुदायरूप मन्त्र का उप-
देश पाप का उत्पादक होने से असम्बन्ध और अनर्थक है । और जो सब दोषों की
निवृत्ति मानते हो तो निवृत्त होकर दोष कहां जावेंगे । यदि कहे कि नष्ट हो जावेंगे
तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं
प्राप्त हो सकते किन्तु कर्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है अन्य कोई नहीं ।
यदि कहे कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप दोष हरि कृष्ण को प्राप्त हों तो
उस के दुःखरूप नरकफल भोगने वाले हरि ही होंगे यह निश्चय है क्योंकि स्वयं किये
हुए पाप पुरयरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है इस न्याय
से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये । सहज स्वाभाविक दोषों की यदि
निवृत्ति होवे तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति होनावे क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक
दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता वैसे आत्मा भी न रहेगा सबके समर्पण करने
में भी आप तथा आपके शिष्यों के शरीरस्थ कुष्मादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण,
सुख, दुःख तथा अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती इससे तुम्हारा समर्पण
ठीक नहीं और ब्रह्मसम्बन्ध से देश काल के परिवर्तन से हुए वात, पित्त, कफ और

घातपित्तकफज्वरादयो दोषा भवदादीनां कथञ्च निवर्त्तन्ते ? ॥ लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृभगिनीस्तुपापरस्त्रीगमनविश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्तुपागुरुपत्न्याविसंयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यैरिदानीन्तनैर्मवद्भिर्वल्लभसंप्रदायस्यैर्मगवद्वपुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम् ? ॥ इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्कम्यते भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशास्तिक्तावधर्मकारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विश्रायेते ॥ “योऽवमन्येत ते भूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः ॥ स साधुभिर्विद्विषकार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः” ॥ १ ॥ इति मनुसाह्यस्य विद्यमानत्वात् ॥ अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चनेत्यादि रचनभङ्गापातङ्कत्वैष कृतमिति विज्ञेयम् ॥ कुत ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाशएव भवत्यत ईदृशस्य अष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विद्वांसो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ॥ अथभोपदेशोपमन्योऽपि वल्लभसंप्रदायस्थानां श्रोतव्यः-तस्मा-

ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त होते ? और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रबधू आदि अन्य स्त्रियों से समागम और विश्वासघात आदि दोष तथा माता कन्या बहिन पुत्रबधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष वल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को तथा भगवान् के वाचल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को क्या नहीं मानने चाहिये ? इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक अवर्म करनेहारे, विद्याहीन, विषयी, अवर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं ॥ नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि जो तर्क शास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है अष्टगुरुओं को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर दें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत होती है ॥ और यह जो कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये बिना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती यह रचना भाँग पीकर के ही की है यह जानना चाहिये, क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है । इससे ऐसे अष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये यह निश्चय है ॥ और भी थोड़ा

दादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्तव्यं विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगिवस्तु समर्पणं कार्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः ॥१॥ अथाऽस्य खण्डनम् । विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वा पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवन्निरूपयिते चेत्तर्हि स्वरूढद्विदुर्भगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? ॥ अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्थानास्त्यतो न क्रियत इति दृष्टुं श्रेयस्तर्ह्येपां भार्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पापरूपं किमर्थं कारयन्ति तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ? ॥ सिद्धान्तस्तु येन यथा सद्यः यस्य यस्याश्च विवाहो जातस्तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम् ॥ तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य बलमसंप्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति

यह बलमसंप्रदायियों का अंधमोपदेश सुनना चाहिये—जिस कारण सर्वत्र समर्पण के बिना सब दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये गुसाईजी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहिले ही सब वस्तुओं का समर्पण अर्थात् स्त्री पुत्र आदि का भी समर्पण करें। विवाह होने पश्चात् अपने भोगने के सब काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण करना चाहिये, समर्पण कर के उन २ वस्तुओं से कार्य भोग करने चाहिये ॥ इस का खण्डन—यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिये समर्पण कर के ही पश्चात् अपने भोग सम्बन्धी काम करने चाहियें तो अपनी स्त्री कन्या भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते ? यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं इससे नहीं करते तो अन्यो की स्त्री आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों करते हो ? यदि कहो कि उन का हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यो के लिये क्यों नहीं करते ? । सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिस का जिस के साथ विवाह हुआ उन का परस्पर समर्पण हो ही गया, अन्यथा नहीं हो सकता यह जानो । इस से व्यभिचारमय उपदेशों वाले इस बलम सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये यही निश्चय है । जो लोग विश्वास करते

निश्चयः ॥ ये विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलं कुतः पापा-
चरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात् ॥

किञ्च पुष्टिप्रवाहभागोपि तादृश एव मिथ्या ॥ पुष्टिप्रवाहमर्यादा धर्माचरणार्था
वताऽधर्माचरणार्थाः ? ॥ नाद्यः कुतो बल्लभादीनामिदानीन्तनान्तानाम्परस्त्रीगमना-
द्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् ॥ अश्ववृषभवानरगर्दभादयो यथा अ-
श्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुनमाचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते
नान्यथा । भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरण-
मधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहौ चेति निश्चीयते ॥ अस्मिन्नर्थे
बल्लभ आह ॥ वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ॥ वैष्णवत्वं हि सहजन्तोऽ-
न्यत्र विपर्यय इति ॥ अतएव बल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धमभवति कुतः लौकिकवैदि-
कत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात् ॥ तस्य संप्रदायस्या अपि नास्तिका गणनीया वेद-
विरुद्धाचरणात् ॥ यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा ॥ तदनुष्ठानत्यागान्मूर्तिपूजनासक्तत्वाद्-

हैं वा करेंगे उन को नरक प्राप्ति ही फल होना सम्भव है क्योंकि पापाचरण के
उपदेश का फल दुःख ही है ॥

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है यह भी वैसी
ही मिथ्या है । पुष्टि प्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है वा अधर्माचरण के
अर्थ ? ॥ इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि बल्लभ से ले के अत्र पर्यन्त हुए गु-
साइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध दीख पड़ता
है । घोड़े बैल बानर और गर्भ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों
को देख के पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं वैसे ही
आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है अन्यथा नहीं । आप लोगों की यही
मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग परस्त्रीगमन पराया धन हरना अ-
धर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित
होते हैं ॥ इस विषय में बल्लभ कहता है कि—“लौकिक और वैदिक धर्म विषय क-
पटरूप होने से यथार्थ नहीं इसमें सन्देह नहीं किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है
इससे अन्य सब विपरीत हैं” इसीसे बल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई क्योंकि
बल्लभ ने लौकिक वैदिक विषय कपट में गिना है । बल्लभ के सम्प्रदायवाले सभी
विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहिये । विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ व व्यापक होता
है यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्तिपूजन में

व्यापकभक्तियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम् ॥ पूजानाम् सत्कारस्त-
ज्जनानां तस्या अरिर्नामशत्रुरस्यपूजारिशब्दार्थो वेद्यः ॥ आर्तिनाम दुःखन्ताङ्गोती-
त्यार्तिकारः ॥ गोशब्देन पशुगुणवान् साई शब्देन यचनाऽऽचार्यः ॥ अर्थं गोसांय्या-
स्यशब्दार्थोऽर्थार्थस्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत्यागञ्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्ष-
पातत्यागञ्च वेदोक्तधर्मपरित्यजेत्तादृशा भवन्तो दृश्यन्त इति ॥ वाजिशब्देनाऽऽख्यो वा
गर्दभो मध्यस्थो वेति वावाजिशब्दार्थः ॥ रागोऽस्यास्तीति रागो वै इति निश्चयेन रागीति
वैरागिशब्दार्थः । दशदेन तुल्यो दशदवत् दशदवन्नाम काष्ठवत् ॥ हिन्दुशब्दस्यार्थः कृष्ण-
वर्णो दस्युः पाषाणादिभूतिपूजको दासईश्वरोपासनाविरुद्धचेत्यादायार्थाः ॥ इत्यादि श-
ब्दार्थानामन्वयपरम्पराऽविद्याप्रचारं विद्यात्यागेनार्थशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽ-
द्यपर्यन्तमागता वल्लभादिसम्प्रदायकपेयात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति
निश्चयः ॥

अथ शुद्धाद्वैतमार्चण्डखण्डनं लिख्यते ॥ शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ? ॥ द्विधा

आसक्त होने से आप लोग वैष्णव ही नहीं हो सकते यह निश्चय जानना चाहिये ।
पूजा नाम सत्पुरुषों का सत्कार उसका जो अरि नाम शत्रु यह पूजारी शब्द का
अर्थ है । आर्तिनाम दुःख को जो करे वह आर्तिकर्त्ता कहाता है । गोनामक पशु-
गुणयुक्त साई शब्द से मुसलमानों का आचार्य अर्थात् जिसको अगम्यागमन का
विवेक न हो और त्याग भी न करे धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े
और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे वह गोसाई कहाता है वैसे ही आप लोग दीख
पड़ते हैं इसी से गोसाई कहाते हो । वाजी नाम घोड़ा दूसरे वा शब्द से घोड़े का
विकल्प करने से गद्गहा वा मध्यस्थ खिचर यह "वावाजी" शब्द का अर्थ है ॥ राग
जिसमें हो वह रांगी वै नाम निश्चय कर जो रागी हो उसको "वैरागी" कहते हैं
यही वैरागी शब्द का अर्थ है दशद नाम काष्ठ के तुल्य अर्थात् जो जड़ हो उसको
दशदवत् कहते हैं यह "दशदवत्" शब्द का अर्थ है ॥ काले वर्णवाला, डाकू, पा-
षाणादि भूतियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि
हिन्दु शब्द का अर्थ है ॥ इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्वयपरम्परा अविद्या के प्रचार
विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अवतक जली
आई और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त है यह अन्वयपरम्परा
सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है यह निश्चित है ॥

अथ शुद्धाद्वैत मार्चण्ड का खण्डन लिखते हैं—शुद्ध और अद्वैत शब्द का क्या अर्थ

इतं द्वीतं द्वीतमेव द्वैतं न द्वैतमद्वैतं कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव ॥ यद्वा तदेव ब्रह्म स्त्रीपु-
रुषरूपेण द्विधा जातं क्रीडाकरणार्थमिति च ॥ नैकशब्दकथं वक्तुम् ॥ कुतः ॥ अवि-
द्यादिदोषरहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वादब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव ॥ यदि
जीवादि कार्यरूपं यज्जगद्ब्रह्मैवास्ति तर्हानन्तत्रिज्ञानरचनधारणसर्वज्ञतासत्यसङ्कल्पादयो
गुणा अस्मिज्जगति कथञ्च दृश्यन्ते ॥ तथाच ॥ जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषापृष्टिक्षयमूढ-
त्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्वन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च ॥ तस्मा-
द्ब्रह्ममकृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम् ॥ द्वीतमीति ॥ द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतस्तु ततोऽन्य-
था ॥ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते ॥ इति ब्रह्मप्रवृत्तनन्दप्रणयम् ॥ द्विधाका-
रणकार्यरूपेण परिणतञ्चेत्तद्विज्ञानदुःखबन्धनरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येवस्युः पृथक्वि-
स्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः परिणामः ॥ तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारकजातमनेन
किमागतमिति श्रूयन्ताम् ॥ ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीडादयो दोषा अपि बल्लभेन ब्रह्मण्येव
स्वीकृता अतएव भवन्मतं घटयुक्तिविरुद्धमिति विज्ञेयम् । बल्लभेन सर्वं खल्विदं ब्रह्म चेदं नेह

कते हो ! दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता जो द्वीत है वही द्वैत और जो
द्वैत न हो वह अद्वैत-कार्य कारण का एक रूप होना है अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री
पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीडा करने के लिये प्रकट हुआ यह कहना ठीक नहीं ॥
क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जग-
त् रूप होना अयोग्य ही है । यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है वह ब्रह्म ही है तो
अन्त, विज्ञान, रचना प्रारण, सर्वज्ञता, सत्यसङ्कल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों
नहीं दीख पड़ते ? और ब्रह्म को कार्यरूप मानें तो जन्म, मरण, हर्ष, शोक, भूख, प्यास,
बढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें इस से
बन्ध्य, नरक दुःख और विषयभोग भी ईश्वर को ही होवें इस से बल्लभ का किया अर्थ
मिथ्या ही जानना चाहिये । और द्वीत, द्वैत एक ही बात है द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता
इस का प्रत्यक्ष उदाहरण "सर्वं खल्विदं" यह श्रुति है यह बल्लभ का भूंकना
है । कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति
होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवें । पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति परिणाम
कहाता है । वैसे ही आप के मत में ब्रह्म ही जगत् रूप बन गया इससे क्या आया यह सुनो ।
जो जगत् में अविद्या ज्वर पीडा आदि दोष भी बल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये इसी से
आप का मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है यह जानना चाहिये । बल्लभ में (सर्वं

नानास्ति किञ्चना ॥ तज्जलानिति शान्त उपासीतेत्यादि श्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः ॥ कुतः ॥ विदुषां समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः ॥ यथा केनाच्छुक्तं सर्वं खल्विदं सुवर्णमिदं नानापिस्तदादिघात्वन्तरं मिलितं नास्ति ॥ तथैव सच्चिदानन्दैकरसग्रहणं नाना वस्तु मिलितं नास्ति ॥ किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयमखण्डैकरस्त्वाद्भेदकत्वाद्ग्रहणश्चेति यथाऽयमात्मा ब्रह्मेत्यभेदं शब्देनात्मनो ब्रह्मण्यप्येव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं न कस्यचिज्जगद्भूतानां संबन्धग्रहणञ्च ॥ तथा तज्जलानिति ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत तस्माद्ग्रहणानन्तसामर्थ्यादिवास्य जगतां जननधाराणामाणादीनि भवन्तीत्येवमखण्डोपासनीयमेव नान्यदित्यर्थो बल्लभेनापि नैव विज्ञातस्तत्संप्रदायस्यानाम्भवतान्तु का कथा ॥ "सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमावाप्यते पुरः ॥ सर्वशब्देन यावद्वि दृष्टभूतमहं जगत् ॥१॥ बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम् ॥ कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैवस्याद्विकारणम् ॥२॥ साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वशं सर्वकर्तृ च ॥ सच्चिदानन्दस्वरूपं हि ब्रह्म तस्मा-

खल्विदं ब्रह्म०) इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्म स्वरूप जाना जाता है उस समय का किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है । जैसे किसी ने कहा है कि:-सब यह सुवर्ण है इस में अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं हैं वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं हैं किन्तु यह सब ब्रह्म ही एक रस है ऐसा जानना चाहिये क्योंकि ब्रह्म एकरस अखण्ड और अभेद्य है । जैसे (अयमात्मा ब्रह्म) यह आत्मा ब्रह्म है इस वाक्य में इदम् शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तुका सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता । (तज्जलान इति ब्रह्म) "तज्ज" नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ "तल्ल" नाम उसी में सब लय होता "तदनु" नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे । अर्थात् उस ब्रह्म के अग्रन्ते सामर्थ्य से ही इस जगत् के जन्म मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं इस प्रकार से ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये अन्य की नहीं यह अर्थ बल्लभ ने भी नहीं जाना तो बल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों की तो कथा ही क्या है । यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है यह पहिले ही बताया है । सर्व शब्द से जितना देखा सुना यह जगत् है वह सब जानना इससे वह सब जगत् ब्रह्मरूप सनातन है क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है । वह ब्रह्म साकार सर्वशक्तियुक्त, एक सर्वज्ञ और सब का रचनेहारा सच्चिदानन्द स्वरूप है उसी से यह जगत् हुआ है । इत्यादि

विदञ्जगत् ॥ ३ ॥ शुद्धाद्वैतपदे द्वेयः समासः कर्मधारयः ॥ अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठी-
तत्पुरुषं बुधाः ॥ ४ ॥ इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तपदे अर्थेतांऽशुद्धा एवेति निश्चयः ॥
कर्मधारयसमासोऽसंगतः कुतः कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात् ॥ षष्ठीतत्पुरुषोऽ-
प्यसङ्गतः द्वौ चेद्वस्तुतो न कदाचिदेकता अवास्तवौ द्वौ चेत्यकार्यकारणकथनं व्यर्थम् ॥
शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे तयोस्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थान् मैथुनसमये द्वैतं स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मि-
न् कृष्णभावना च क्रियते ॥ अहं कृष्णस्त्वं राधा ह्यावयोरस्तु संगम इत्यादि पतितकारकं
बलभादीनां मतमिति निश्चयः ॥ कुतः लक्ष्मणभट्टेन संन्यासं पूर्वगृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः
कृतः स एव प्रथमतः श्वचद्वान्ताशी जातः तत्पुत्रो बलभोपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये
विरक्ताश्रमगृहीत्वा पुनरभूदगृही तथानेकविधो व्यभिचारो गोकुलनाथेन विद्वलेन च कृ-
तस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः ॥ लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्ट-
कर्म यथाबल्लभसम्प्रदाये दृश्यते येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासङ्कुर्वन्तीमान् शुद्धश्च

बल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्त्तपद नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं यह निश्चय जानो
शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास
कार्य कारण के एक स्वरूप एकात्मक गुण वाले न होने से असङ्गत हैं। षष्ठीतत्पुरुष-
समास भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं उनकी एकता क्योंकि होसक-
ती है और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं तो कार्यकारणरूप कहना व्यर्थ है इससे शुद्ध
पुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एक शेष समास भी असङ्गत है। अर्थात् मैथुन समय
में द्वैत स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं। मैं कृष्ण तू
राधा मेरा तेरा सङ्गम होवे इत्यादि कुर्म से बल्लभादि का मत पतित करनेवाला जानना
चाहिये क्योंकि इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मण भट्ट हुआ उसने पहिले संन्यास ग्रहण
करके पीछे गृहाश्रम धारण किया इसलिये लक्ष्मण भट्ट ही पहिले कुते के तुल्य
वान्ताशी अर्थात् उगले हुए को खाने वाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास
किया पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग
किया। इसी लक्ष्मण भट्ट का पुत्र बल्लभ हुआ इसने भी पहिले विष्णु स्वामी के सम्प्र-
दाय में विरक्त (संन्यास) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकु-
लनाथ विद्वल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों
में प्रसिद्ध हैं। इनके आदिपुरुष लक्ष्मण भट्ट से लेकर अब तक बल्लभसम्प्रदाय में
व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् दीख पड़ता है तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास

मन्यन्ते तेपि तादृशा एवेति विज्ञातव्यम् ॥ एतादृशस्य पापकर्मकर्तुं रधमात्मनो गुणोस्त्यागं
 दत्तने च पुरयमेव भवति नैव पापञ्चत्यत्राह मनुः ॥ "गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा
 बहुश्रुतम् ॥ आततायिवभायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ १ ॥ नाततायिवधे दांपो हन्तुर्म-
 चति कश्चन ॥ प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमुच्छेदतीति" ॥ २ ॥ धर्मं त्यक्त्वा शोधनं
 प्रवर्तते स आततायी विज्ञेयः ॥

(प्र०) शुद्धाद्वैतप्रकाशरूपं स्वभावतः उताऽन्वकाररूपम् ? ॥

(उ०) नायः कुनः स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्धसूर्यपेक्षाभावात् । न
 चरमः स्वभावतोऽन्वकारस्वरूपश्चेत्सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात् ॥ एवमेव तत्सिद्धा-
 न्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् ॥ अतएव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डसिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाम-
 मात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धेस्तु का कथा ॥ एवमेव विद्वन्मखण्डनस्यापि खण्डनं
 विज्ञेयम् ॥ विद्वल एव यदा विद्याज्ञातीत्युनर्विदुषां मखण्डनं कथं समर्थं स्यात् ॥ किन्तु

करते और इन बड़पादि मतस्य लोगों को गुरु मानते हैं वे भी वैसे ही जानने चाहिये ।
 ऐसे पापकर्म कर्त्ता अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुरय हो जाता है पाप
 नहीं हा विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण है:-गुरु, बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब
 आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों तो राजा बिना विचारे मार डाले । क्योंकि
 आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता चाहे प्रसिद्धि में मारे वा
 अप्रसिद्धि में सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है किन्तु हिंसा नहीं कहाती । धर्म को
 छोड़ के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो वह आततायी कहाता है ॥

प्र०-शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है वा स्वभाव से अन्वकाररूप है ? ॥

उ०-प्रकाशरूप होना पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि यदि स्वभाव से प्रका-
 शस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होने से मार्त्तण्ड नामक पुस्तक देखने
 के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होने सूर्यप्रकाश की अपेक्षा बिना ही कार्य सिद्ध कर सके
 सो सम्भव नहीं । स्वभाव से अन्वकार स्वरूप होना द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि
 स्वभाव से ही अन्वकार स्वरूप हो तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असम्भव
 हो जावे इसी प्रकार सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड का भी खण्डन जानो । इस पूर्वोक्त प्रकार
 शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड और सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं
 है अन्व के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है इसी प्रकार विद्वन्मखण्डन नामक
 ग्रंथ का भी खण्डन जानो । जब तुम्हारा आचार्य विद्वल ही विद्वान् नहीं था तो फिर

परस्त्रीगमन परधनहरण व्यभिचारमगहनं च सामर्थ्यन्तस्याभूतान्यत्रेति विज्ञेयम् ॥
तत्र दिङ्मात्रनिर्देशनं वार्यते । निजमुगलिकेति ॥ मुगलिका नादेन तेनागता गोकुलस्य
सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन लंहान्द्रोगार्थे स्वीकृता इत्युक्तम् ॥ प्रतिलक्षणं ॥
युवति युवति जज्ञीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोजित
इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्द्विद्वन्मगहनमित्यस्य नामायोग्यमेव ॥ कृतः ॥ मूर्खव्यभि-
चाराधर्माणामत्र मगहनत्वात् ॥ एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गनमेवेति वेद्यम् ॥ तथा च
शतशो भाषाग्रन्था रसभावनादयोपि भ्रष्टतरा एव ॥ तत्रत्यैकदेशनिर्देशनं लिख्यते ।
राधायाः कुचाश्लेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः ॥
ग्रन्थास्मर्षाः स्त्रियाः सन्ति ॥ अष्टनिश्चिन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति ॥ पुनः सूर्योदय-
समये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीराभिमृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं
मैथुनमाचरन्ति सर्वे ॥ तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति संज्ञाकृता प्रभुरितिश्वरस्यनामा-
स्ति । प्रभुर्गान्नापि पर्येषि विश्वत इत्यादि श्रुतिषु वर्णितम् । तेनेश्वरणाद्यपर्यन्तं तुल्यः

विद्वानों का मगहन कैसे कर कसता है । किन्तु परस्त्रीगमन पराय धन हरना, और
व्यभिचार के मगहन करने में तो अवश्य उसका समर्थ था अन्य किसी कार्य में
नहीं सो उदाहरणमात्र दिखाते हैं विद्वलकृत विद्वन्मगहन नामकग्रन्थ में (निजसुरलि-
का०) इत्यादि लिखा है अभिप्राय यह है कि सुरली का शब्द मुनके गोकुल की
सुन्दर सुन्दर स्त्रियां आई, कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उन-
का ग्रहण किया । अर्थात् युवति २ स्त्रियों को देखकर जितनी गोपों की स्त्रियां थीं
उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर उनसे समागम किया इत्यादि
भ्रष्ट वचनों के कहने से विद्वन्मगहन नाम अयोग्य ही है क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख
व्यभिचार और अधर्मा का मगहन है । इसी प्रकार आणुभाष्य भी असङ्गत ही है
और ऐसे ही रस भावना आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं । इसमें
एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं ॥ राधा के कुच आदि अङ्गों में मोदक आदि
की भावना करनी चाहिये ॥ तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियां
हैं कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन रात क्रीड़ा करते हैं ॥ सूर्य उदय होते समय
जितनी स्त्रियां हैं उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक २ स्त्री को एक २
पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं ॥ और वल्लभ का महाप्रभु नाम
रक्ता है प्रभु नाम ईश्वर का है ॥ प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है यह वेद में कहा ॥

कोपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु का कथा ॥ पुनर्मेहाप्रसुशब्देन बह्वभविष्ये
किङ्कश्यते यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रसुशब्दार्थोऽवगन्तव्यः ॥ यथा वेदयुक्तिविरुद्धो
बह्वभसंप्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणपत्यसौरवैष्णवाद्यस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्ति-
विरुद्धा एव सन्तीति दिक् ॥

शशिरामाङ्गचन्द्रन्द्रे कार्तिकस्यासिते दत्ते ॥

अमार्या भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पुत्तिमागतः ॥ १ ॥

जन्, उस ईश्वर के तुल्य अवतक न कोई हुआ न होगा तो उससे अ-
धिक कौन हो सकता है, फिर महाप्रसु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे
ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से नीच का नाम महाब्राह्मण होता है वैसे
ही महाप्रसु भी जानना चाहिये जैसे वेद और युक्ति से विरुद्ध बल्लभ का सम्प्रदाय
है वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति
से विरुद्ध ही हैं ॥ इति शुभम् ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्वयानन्द-

सरस्वती स्वामिनिर्मितस्तच्छिष्य भीमसेन-

शुभकृतभाषानुवाद सहितश्च वेद-

विरुद्धमतखण्डनो ग्रन्थः

समाप्तः ॥



विज्ञापन ॥-

पहिले कमीशन में पुस्तकें मिलती थीं अब नकद रुपया मिलेगा ।
हाकूमहसूल सबका मूल्य से अलग देना होगा ॥

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य	विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
ऋग्वेदभाष्य (९ भाग)	२०)	सत्यार्थप्रकाश नागरी	१॥)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	१०)	सत्यार्थप्रकाश (बंगला)	१)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	१)	मंस्कारविधि	॥)
” केवल संस्कृत	॥)	विवाहपद्धति	॥)
वेदाङ्गप्रकाश १४ भाग	४१=)॥)	शाम्भार्य फीरोज़ाबाद	८)॥)
अष्टाध्यायी मूल	८=)॥	आ० स० के नियमोपनियम	॥)
पंचमहायज्ञविधि	८=)॥	वेदविक्रममतखण्डन	८=)
” वदिया	८=)	वेदान्तिध्वान्तनिवारण (नागरी)	॥॥)
निरुक्त	॥=)	” (अंग्रेजी)	८=)॥)
शतपथ (१ काण्ड)	॥)	भ्रान्तिनिवारण	८=)
संस्कृतवाक्यप्रबोध	८=)	शास्त्रार्थ काशी	॥॥)
व्ययहारभानु	८=)	स्वयन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (नागरी)	॥)
भ्रमोच्छेदन	॥॥)	तथा (अंग्रेजी)	॥)
अनुभ्रमोच्छेदन	॥॥)	मूलवेद माधारण	५)
सत्यधर्मविचार (मेलाचांदापुर)नागरी)	८=)	चारों वेदों की अनुक्रमणिका	१॥)
” ” (वर्द)	८=)	शतपथब्राह्मण मूल पूरा	— ४)
आर्योद्देश्यरत्नमाला (नागरी) ॥॥) सौ	॥)	ईशादिदशोपनिषद् मूल	॥८=)
” (मरहटी)	८=)	छान्दोग्योपनिषद् संस्कृत तथा	
” (अंग्रेजी)	॥॥)	हिन्दी भाष्य	३)
गोक्रणानिधि	८=)	यजुर्वेदभाषाभाष्य	२)
स्वामीनारायणमतखण्डन	८=)॥	वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	३)
हवनमंत्र १) रुपया सौ	॥)	नित्यकर्मविधि ॥, एक रु० सैंकड़ा.	
आर्याभिविनय बड़े अक्षरों का	॥=)		
आर्याभिविनय छोटका	८=)		

पुस्तक मिलने का पता—

प्रबन्धकर्ता, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर.

